Peer Reviewed Journal
ISSN No: 2348-473X

कथाकार शिवमूर्ति के उपन्यास 'आखरी चलांग' में कृषक जीवन का यथार्थ चित्रण'

पुष्पा कुमारी

शोधार्थी, हिन्दी विभाग, ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय, कामेश्वरनगर, दरभंगा

सारांश–

शिवमूर्ति वर्तमान कथाकारों सबसे सस्क्त और संवेधनशील कथाकार है। कथाकारों की महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा रहे है। हिन्दी उपन्यासों में 'आखरी छलांग' लघु उपन्यास होने बावजूद भी भारतीय किसानों, की पक्ष मजबूती के साथ रखते है। उपन्यास में कर्ज, गरीबी और ग्रामीण जीवन की आर्थिक संकट के कारण किसानों द्वारा की जा रही आत्महत्या की संख्या बढ़ती जा रही है। उपन्यास का नायक पहलवान कर्ज के बोक्ष तले दबा है, जो किसान जीवनकी त्रासदी का प्रतीक है। शिवमूर्ति ने अपने उपन्यासों में वर्तमान ग्रामीण समाज की गरीबी, शोषण, जातिवाद, विकृत राजनीति, भ्रष्टाचार, वर्ग–विषमता भ्रष्टाचार, अंधविश्वास, अशिक्षा, नारी-शोषण, किसान शोषण से लेकर अनेक समस्या का शिवमूर्ति ने ईमानदारी के परिचय दिया है।

मुख्य शब्द– भिक्षुक, क्षुब्ध, अशेष, स्वीकारोक्ति, जनपक्षधरता, प्रेमपूर्वक, गृहस्थी, समूचेपन, अट्टहास, नागपंचमी, वासुदेव, नागपंचमी, कीटनाशक, अलगाव, बाजारबाद, आत्महत्या, संघर्ष, अशिक्षा, जातिवाद, वर्गवाद।

प्रस्तावना–

उपन्यास के बारे में रचनाकार की स्वीकारोक्ति की यह सतमासे बच्चे-जैसा ही हैं, एकदम सच है। इस प्लॉट को एक खासे उपन्यास का रुप दिया जा सकता है पर इसमें भी वह अशेष संवदेना का रुप दिया जा सकता है पर इसमें भी वह अशेष संवदेना सा है जिसे जनपक्षधरता कहते हैं। यहाँ किसान जीवन की हत्यारी परिस्थितियों को पूरी सजगता के साथ रचने का प्रयास किया गया है। यहाँ 'रेहन पर रग्पू' वाली बात नहीं जिसमें साफ लगता है कि रचनाकार गाँव को कम ही जानता है और पहले देखा गया गाँव ही उसके साथ बच रहा है। शिवमूर्ति का गाँव उनके साथ चलता चला आ रहा है।

उपन्यास की शुरुआत होती है पहलवान-पत्नी की चिन्ता से। यह चाहती हैं कि पहलवान नहा-धोकर जल्दी खा-पी लें। बैलों को बेटी पानी पिला देगी। पर पहलवान अनसुनी कर देते हैं। परेशानियाँ पुरुष को अपने में समेट लेदी हैं। यह परिवार की परेशानी के बारे में जितना ही सोचता है, उससे अप्रस्तुत होता जाता है। यह सच है कि जब जिम्मेदारी बढ जातो है और परिस्थितियाँ जिम्मेदारियों को खोजने लगती हैं तो यही शेष रह जाता है। अपने में सिमटता हुआ व्यक्ति खुद पर ध्यान रखना छोड़ देता है। पहिले 'सगत' और

'पिखुरी साह' दोनों का सम्मान करते हुए पहलवान सगरे में ही प्रेमपूर्वक नहाया करते थे। 'अब तो अपने दरवाजे के कुएँ । ही दो-चार लोटे पानी दाएँ-बाएँ डालकर स्नान पूरा करने लगे हैं।'

चिखुरी साह और उनके सगरे का सम्मान गाँव का, उसकी परम्परा ही नहीं उसके समूचेपन का सम्मान था। जीवन के एक दौर में जब जिम्मेदारियाँ बढ़ जाती है तो पढ़ाई के बाद बाल-बच्चेदार होकर गृहस्थी सम्हालने तक यह गाँव का समूचापन मन हो भाता है, अपने में और भी कुछ हूँ' का भान करता चलता है। (खाराकर दूतरे गाँव से आई अपनी पत्नी के सामने)। यदि गृहस्थी बोझ न बने तो यह साथ चलता रहता है। कमोवेस। पर जब जिम्मेदारियाँ निभाने को ही ना आयें तो मन इनसे अप्रस्तुत होने लगता है। पहलवान के साथ भी ऐसा ही है। उनका स्नान को स्थगित कर 'नीम की छाया में खड़े लोटे वाला हाथ हिला हिलाकर अकेले ही कुछ बोले' जाना इसी का परिचायक है। पत्नी ऐसा देखती है और सोचती है- "मन रोज-रोज छोटा होता जाता है। पहले इनके अट्टहास को बीघा-भर की दूरी से सुना जा सकता था। अब हँसी निकलती भी है तो बेआवाज।"[1]

जिन बलाओं को मीर सुनते थे

उनको इस रोजगार में देखा

परेशानियों से घिरा आदमी धर्म और ईश्वर की शरण में जाता है। पहलवान नहाते हुए कहते हैं कि- "हर हर गंगा पावती पाप न रहि जाय एक रती।"[2] इस पर पत्नी हँसती है- कॅउच-भटी हंसी; पापी लोग कहीं ऐसा कहते हैं। पहलवान ने एक और आदत पकड़ी है-लोन-बकाया में पकड़े जाने के बाद से। वे बासी मुँह शंकरजी पर जल चढ़ाते हैं। सारी परेशानियों को दूर कर देने का उपाय। किसी ने बताया होगा। उन्हें लगता की खाद-ट्यूबवेल का कर्ज सद जाएगा, बेटे की आगे की इंजीनियरिंग की फीस भर सकेंगे और बेटी का ब्याह भी हो जाएगा जिसके लिए दो बरस से दौड़ रहे हैं। "मुझे याद आता है मेरे बाबूजी भी शनिवार को पीपल में जल डारते थे। फिर मेरी नौकरी हो गई तो शिवजी पर बासी मुँह दूध चढ़ाने लगे खासे समय तक बीमारी से जूझते रहे थे बेचारे, बीमारी लेकर चल बसे।"[3]

'जिन लोगों ने उन्हें नागपंचमी के दिन लम्बी छलांग लगाते देखा है, वे उनमें आए इस परिवर्तन को देखकर आसमान की ओर देखने लगते हैं। उन्हें समय की इस मार में पहलवान का भी कमजोड़ होते जाना निराश करता है। ये इलाके के नामी-गिरामी पहलवान रहे हैं। वैसे गजबूत और फिर जनप्रिय व्यक्ति की यह दशा लोगों को 'हे भगवान्' की मुद्रा में आसमान की ओर देखने को मजबूर कर देती है अब तो वही एक तारा किसान की यह त्रासद परिस्थिति भारतीय किसानों का स्थाई प्रसंग है। भारतीय इतिहास में किसानों का स्वर्ण युग कमी नहीं रहा। इनके लिए तो जीवन उठा-पटक से ही भरा रहा है। शिवमूर्ति ने किसान जीवन के त्रासद पहलुओं को बड़े मार्मिक ढंग से- उपन्यास में उतार दिया है कि हर किसान कमोबेस उसमें खुद तो झाँकता देख ले। प्रेमचन्द के किसानों की मूल समस्या थी कर्जलेना। तब बनिए और ब्राह्मण महाजन थे।

अब सरकार और राष्ट्रीयकृत बैंक सरकार दावे तो खूब करती है पर किसानों को खाद-बीज, बिजली, पटवन के मामले में हमेशा चर्चित करती जाती है। यह उनके लिए इस बढ़ती महंगाई में टिकना असम्भव बनाए जा रहीं है। सब्सिडी तो हटाई ही जा रही है, ऊपर से अनाज की कीमतों पर भयानक नियन्त्रण उनके उत्पाद पर उचित मूल्य पाने से वंचित कर रही है। 'डीजल, विजली, खाद-कीटनाशक, जोताई-मड़ाई-मजरी-सबका रेट तो हर साल दस-पाँच रुपये बढ़ जाता है, नहीं बढ़ती तो किसान की पैदावार का दाम।' कम होते हैं, कानून हैं पर उन्हें लागू करने वाले यदि सही ढंग से लागू कर दें तो उन्हें क्या मिलेगा सो, वे कोताही बरतते हैं। नहर में सिल्ट जमा है। उन्हें साफ कर दें तो क्या हासिल होगा, उन्हें उनका फायदा इसमें है कि काराज पर वह साफ हो गया, सचमुच नहीं। ऐसे में किसानों ने अकाल के साल नहर में पाइप डालने का उपक्रम किया और पानी के दबाव से नहर कट गई। अब इस पर जो मुकद्दमा चला सो बाईस सालों तक चलता रहा। सिल्ट के कारण नहर का पानी यों ही उपलेन हो रहा था। नहर कट गई तो इसमें गाँव वालों का क्या दोष। पर दोपी लोग तो अपना दोष मानने से रहे। वे अपना किया दूसरों पर थोपते रहे है। नहर के जमी सिल्ट की सफाई न होने से पानी के दबाव से नहर कट गई। विभाग वालों ने ग्राभीणों पर झूठा भुकदमा ठोंक दिया। इसके खिलाफ धरना-प्रदर्शन की बात थी। तो गाँव के लोग जुटे ही नहीं गाँव के लोगों में एकता नहीं है। किसान-मजूर का बँटवारा जाति-धर्म का बँटवारा, फिर जाति में भी भेदोपभेद। संपत्तिशाली और पहुँच-पैरवी वाले अलग। ये अपना काम निकाल ले जाते हैं फिर सामान्य किसानों से इन्हें क्या मतलब। धरना-प्रदर्शन में जनता की असफलता लोगों को सालती है और ये सब बातें सामने आ जाती है। खेलावन यादव अगुआनी कर रहे हैं, सो ठाकुरों ने कह के भी अपना ट्रेक्टर नहीं भेजा। पर दो-एक ठाकुर-ब्राह्मण भी आए हैं। गाँत का यह एक संच है पर अपवाद भी हैं और यहीं उम्मीद है। पहलवान जुटान की इस असफलता पर सबकी तरह खिन्न हैं और जैसे उनकी यह सोच आज के बाजारवादी दौर के बीच बैटे हुए किसानों का कड़वा सच बनकर सामने आती है- "हमारी सरकार की नीतियाँ तो हवा-हवाई हैं ही, वे बाहर की कम्पनियों के साथ भी ऐसे-ऐसे एग्रीमेंट कर रही हैं जो सौ साल पहले गिरमिटिया मजदूरों के साथ हुए एग्रीमेंट से भी ज्यादा खतरनाक हैं और गाँव के लोग झविया में बन्द उन मुर्गों की तरह हैं जो बेचने के लिए शहर ले जाए जा रहे हैं।"[4] झबिया के अन्दर वर्णवाद और नस्लवाद का घमासान चल रहा है। उन्नत नस्ल के मुर्गे देशी, मटमैल या छोटी करूँगी वाले मुर्गो को हेय दृष्टि से देखते हुए उन पर अपनी शक्ति और श्रेष्ठता का रौब झाड़ रहे हैं। उनको लतिया रहे हैं। नोच-खसोट रहे हैं। उनके लिखे सदियो के अन्दर विजय मिल गई तो समझो विजय कर लिया। पहलवान सोचते हैं कि- "काशः गतिगत अलगाव न होता तो कितना मजबूती आ जाती गाँव में फौलाद-जैत्ती भजबूती।"[5]

इस कहानी में 'प्रेपचन्द' और 'रेणु' याद आ जाते हैं। अगुआई (लड़का देखने) में जा रहे पहलवान शीशे के आगे अपनी धज सँवार रहे हैं। 'गोदान' का होरी यहाँ याद आता है। धनिया राय साहब के यहाँ जाते होरी से जो बातचीत करती है, वह प्रसंगा रस का सूखता तोता जैसे हरा हो गया है। जमींदार के यहाँ जाना और

लड़के वाले के यहाँ जाना, बात बराबर है। ये छोटे-छोटे प्रसंग जिन्दगी में रस के तोते को सूखने नहीं देते। रास्ते के विवरण, निफिकिरा अतीत में बुआ के यहाँ जाने के कारण, बुआ के यहाँ की वह लड़की, रास्ते में दीखने वाला मरखा साँड़ ये सब ऐसे प्रसंग हैं जो जिजीविषा को बचाए रखते हैं। गाँव से दूर हो जाते पहलवान अपनी समस्याओं से कुछ अप्रस्तुत होने लगते हैं और शेष जिजीविषा झोंक जाती है। यह ‘आखिरी छलाँगः की सम्भावना को बचाए रखती है।

बीच-बीच में ‘रोजगार की संभावना भी रहती हैं। जा भी तो रहे हैं लड़की के लिए घर-देखने और रास्ते में पड़ने वाले किसान अपनी खेती के कड़वे प्रसंग याद दिलाते रहते हैं। ‘यूरिया के इकक सफेद दाने’ देखकर गेहूँ की बुआई और खाद के लिए पैसों की कमी याद आ गई। नहर में भरती सिल्ट याद आ गई। आलू की रोपाई और उखाड़ते वस्त्र की गिरी हुई कीमत याद आ गई। ट्यूबवेल का बकाया बिल याद आ गया और याद आया बेटे की इंजीनियरिंग की पढ़ाई की अगली किश्त। कैसे भरेंगे उसे ? पहले तो खुद और कुछ अपनों की मदद से चुक गए अभी तीन साल और बचे हैं। ऐसी ही मनःस्थिति में थकान से दिमाग गरम हो गया पानी पीकर पेड़ के नीचे लेटे तो सपना आ गया। “तहसील का अमीन सपने में आया और वे चिल्लाकर जग गए। याद आई चार महीने पहले की घटना जब अमीन ने सरे बाजार पकड़ा था। उसके सामने जमीन पर बैठे वे बड़े निरीह लग रहे।”[6]

पढ़ने वाले को महाजन के सामने उकहूँ बैठा गोदान का होरी याद आ जाएगा।

समय बदला है। पर अब हमारी सरकार ही महाजन है सबसे बड़ी। वह भी सब कुछ ले लेती है, थोड़ा देकर, जैसे पहले अंग्रेज करते थे। ऐसा इसलिए कि वृहत्तर भारत अपनी परेशानियों में ही जूझता रहे बँटा तो है ही अब ऐसे में शासकों के आड़े थोड़े आवेंगे। स्वतन्त्र भारत के ‘भाग्य विधाताओं’ ने इसे अंग्रेजों से खूब सीख लिया है।

बावजूद इस सबके गाँव बदले हैं। अपनी संघर्ष-क्षमता की वदौलत बदले हैं। स्वतन्त्रता संघर्ष और किसान आन्दोलनों में इनकी भूमिका ने इनकी उपस्थिति शासक वर्ग के सामने दर्ज कर दी है। जमीदारी उन्मूलन यों ही नहीं हुआ। बाद में नक्सल आन्दोलन ने मजदूरों की ताकत दिखा दी। शासक वर्ग ने किसान-मजूर को बाटे रखने की दिशा के अपनी योजनाएँ चला दी। इस पर फिलहाल तिचार करने की जरूरत नहीं है, जो हो गाँव बदले हैं। तब तो लल्लन पहलवान ने अपने उस्ताद को कुर्सी लाकर विठाया और भीड़ ने ताली बजाई।

यह ताली केवल अपने दुलारे पहलवान के लिए न थी अपितु अपने ही जैसे किसान के लिए ज़्यादा थी। शिवमूर्ति ने सर्वहार की कथा नहीं कही हैं। ‘होरी’ सर्वहारा न था। किसान था, मजूर बनता गया। पहलवान सीमान्त किसान हैं-पाँच छः एकड़ थाले। सर्वहारा होते तो शायद ऐसे शर्मसार न होते। वे तो ठीक-ठाक किसान हैं-मर्यादा के मारे; जिसकी जरूरतें पूरी नहीं होती। पहलवान अपने बछड़े को कसाई के हाथ बेचने

Peer Reviewed Journal
ISSN No: 2348-473X

को बाध्य होते हैं- पैसे-पैसे को मुँहताज जो हैं। कुछ हाथ आ जाय कि खेत में खाद भी डाल दिया जाए। यही याद आता है कि किन परिस्थिति में होरी ने अपनी बेटी रूपा की शादी अधेड़ रामसेवक से तय की थी। वही टीस, वही कसर। पहलवान पति-पत्नी में तकरार हो रही है। कथाकार ने इस प्रकरण को थोड़ा खींचकर जैसे अपने कथानायक की पूरी परीक्षा ले ली है।

जो हालात हैं पहलवान के कि वे पाई-पाई को मुँहताज हैं, मेरे जैसा पड़ोसी तो चाहता है कि वे बछड़े को बेच ही दें जैसा उनकी पत्नी पारिवारिक जिम्मेदारियों को ढोती हुई चाह रही है। डूबते को तिनके का सहारा।

बछड़ा कसाई से पगहा छुड़ाकर दौड़ते, पुनः अपने थान पर आ जाता है। तब पहलवान को जी कड़ा कर उठना पड़ता है। ये पत्नी को कर्ता बनाकर ओट में लेट गए थे पर अब "पहलवान उठकर बैठ गए। बछड़े को बाँस का डण्डा लेकर हाँकने लगे। दो-तीन चोट खाने के बाद जमीन से मुँह सटाकर वह होकड़ा; फिर पीठ खलाकर सुस्त कदम बढ़ाए।"[7] आखिर पहलवान को बेपर्द करके ही छोड़ा कथाकार ने! कसाई के हाथ बाछा बेचना- कोई भी किसान यदि उसमें थोड़ा भी परम्परित संस्कार बचा हो, तो बड़ा कठिन है। गाढ़े में पड़ा किसान क्या न करे। यह उसकी भीषण लाचारी को दिखाता है। 'पराधीन तपनहूँ सुख नाहीं।' यों बाबा तुलसी ने इसे नारी के सन्दर्भ में यह कहा था पर मुझे लगता है किसान के बारे में भी वह उतना ही सच है।

बेटी के विवाह के लिए लड़का देखने का प्रसंग इस लम्बी कहानी का महत्वपूर्ण और विस्तृत प्रसंग है। कंवल कृषि कार्य पर आश्रित व्यक्ति के लिए आज यह भार-स्वस्म हो गया है। पहले भी था। लड़के वालों का पफैला मुँह यहीं भी प्रकट है खुद चाहे अपनी लड़की को बरनाठ (बड़ी उमर का वर) से व्याहा हो, घर भी ठीक नहीं, द्वार पर दूसरे के बैल वैधे हैं पर 'आठ हजार कमाने वाले लड़के' जिसके लिए घूस देनी पड़ी हो दहेज लेकर परिवार के लिए भरपाई कर लेना लाजिमी हो जाता है।

यह मामला बड़ा जटिल है। समाज इसी दिशा में चलता चला आ रहा है। व्यक्ति अपने अभाव को ही देखता है और दूसरों के अभाव से नेपरवाह होता है। सम्पत्ति की लालसा के आगे इंसानी जज्यों का कोई मोल नहीं होता। झुन्नू बाबू और उनकी पत्नी उसी परम्परा के लोग हैं। अभावों से घिरे जरूर पर यह नहीं सोचते कि कमाऊ पूत तो इन अभावों को भर देगा, फिर किसी का गला क्यों दवायें। वे 'उधार के बैल' बाँधकर अपनी हैसियत बढ़ा दहेज ऐंठने वालों में से हैं। 'विवाह' के मामले में यह 'उधार की प्रिसियत' जमाने से चली आती है। इस लोकतन्त्र में भी इस 'हैसियत के राकस' से छुटकारा न मिला। सामंती व्यवस्था की उपज इस हैसियत के राकस ने आज किसान को एक आभासी रूप से सहज झूठ में जीने को विवश कर दिया है और इसके पीछे उसकी इन्सानियत तयाह होती गई है, ये एक-दूसरे के लिए पराए होते गए हैं। सामंती व्यवस्था ने जिस तरह उन्हें बाँटकर उनकी निजी समस्याओं के हवाले करके रखा था, लोकतन्त्र ने भी रूप बदलकर यही किया है।

एक दरमियाना या छोटा किसान यहीं भया के केन्द्र में है। यह सर्वाधिक परेशान तबका है। सम्भवतः मजदूरों से भी जिनके पास खोने को उतना नहीं जितना परम्परित समाज-व्यवस्था में इनके पास। मजदूर भी ऐसा जिसके पास खोने को कुछ नहीं। सामाजिक मर्यादा की सी सीढ़ियों हैं, वे जाति-भेद की सीढ़ियों की तरह अपार मायावी हैं, जहाँ मर्यादा का बन्चन किसी को नहीं बख्सता। इतिहास को जानने वाले भूले न होंगे कि जनेऊ-ग्रहण की मुहिम में केवल ऊँची जाति के लोग ही नहीं, तथाकबित नीची जातियों भी पीछे न रही थीं। 'मेला आँचल' का यह प्रसंग भी हिन्दी कथा साहित्य से वाकिफ लोग न भूले होंगे जब कथित नीची जाति के पुरोहित को ऊँची जाति के लोगों ने घोड़ी पर से उतार दिया था। स्थिति अब भी नहीं बदली, नक्सलवादी के वावजूद।

पर इन दरमियाने किसानों की हालत तो दर्दनाक है। खेती में लागत खाद, बीज, जुताई, मॅड़ाई, मजूरी में साल-दर-साल बढ़ोतरी होती जाती है। और उपज के दाम का कोई ठिकाना नहीं। आलू-प्याज जैसी फसलों में तो कभी-कभी लागत भी मुश्किल होता है। धान-गेहूं-दलहन के दाम स्थिर-जैसे हैं। बढ़ते भी हैं तो अन्य चीजों जैसे-खाद, बीज, डीजल, पेट्रोल, नमक, साबुन-सर्फ, किताब-कॉपी, दवा, कपड़ा, इंट-छड़-सीमेंट मुकाबले नाम को। उदाहरण के लिए यूरिया विगत चार सालों में दुगुने दाम पर और डी.ए.पी चौगुने दाम पर बिक रहे हैं। पर तब से उपज के दामों में 25-30% से अधिक बढ़ोत्तरी नहीं हुई है। मजूरी भी एकाएक दूनी से अधिक हुई है। पहले की तरह शिक्षा और स्वास्थ्य भी सरकारी हिसाब के न रहे। सरकार ने इनसे हाथ खींच लिए हैं। लोक कल्याणकारी गणराज्य की बात बस बात ही रह गई है। कर्ज ले तो बैंक कलेजे पर रावार हो जाते हैं। लड़के पढ़ने वाले हुए, लड़की ब्याहनी हुई तो जिन्दगी गरत हो जाती है।

पहलवान इसी फेर में पड़े हैं। वे जब बेटी के लिए लड़का देख लौटे तो पत्नी से डाँट पड़ने को ले डरे थे। वे पत्नी की हिदायत के बावजूद लड़के की माँ को जली-कटी सुना आए थे। पत्नी उनकी मनोदशा को समझती है।

सरकार ने यह तो किया ही है शिक्षा से हाथ खींच लिया है। ताकि निजी शिक्षा फले-फूले। यदि बेटा पढ़ने वाला निकला और बेटी भी व्याहनी हुई तो एक कृषि-जीवी को खेत बेचने के अलावा और कोई चारा नहीं। पहलवान तो इन दोनो स्थितियों के दीच फैसे हैं। इसीलिए जब कोई कहता है कि वे मीटिंग में क्यों नहीं बोले तो हँसकर कहते जरूर हैं कि उत्तने विद्वानों के बीच वे क्या बोलते; पर मन में सोचने लगते हैं- "बोलते कि जो बाहरी लोग लूट रहे हैं, चूस रहे हैं उससे बचाने के लिए तो इतने-इतने लोग तैयार हैं लेकिन जहाँ भाई ही भाई को लूट रहा है, उससे कौन बचाएगा? कहते कि सारे लड़कों के बाप इसी मीटिंग में हाथ में गंगाजल लेकर कसम खाएँ कि दहेज लेना हराम है। दहेज लें तो समझें कि अपनी बेटी पर काँध खोलें। बोलते तो बोलने के बाद पहले खुद कसम खाते।"[8]

इस मारक स्थिति ने सामान्य किसानों के गिर्द भय और असुरक्षा की दीवार खड़ी कर दी है। वह भय ही है जो इतने लोगों को इकट्टा करता है। लोगों में सामूहिक साहत पनपता है और वे 'नए सुराजी' के रूप में

संगठित होना चाहते हैं। वह भय ही है जो गाने के रूप में निकलता है और 'आखिरी छलाँग' के लिए तैयार करता है।

पहलवान ने बाछा तो बेच दिया पर बेटे को बेचना उन्हें मंजूर नहीं। बेटे ने शादी से साफ मना कर दिया। एक सज्जन उसकी पढ़ाई का खर्चा उठाने और दहेज देने को भी तैयार थे; एवज में अपनी बेटी की शादी उससे करना चाहते थे। ऐसा करने पर पहलवान के साले की बेटी का भी ब्याह हो जाता। पर पहलवान अब उस भय का मुकाबला करने के मनोदशा में हैं। पुराना उत्साह जैसे मन को मना रहा है। वे आज बड़े दिनों बाद सगरे में नहाने चले। खाना खाते हुए एक रोटी बेसी खा गए। पत्नी से बाजार चलकर पान खा आने को भी कहा बेचारी पत्नी का 'रंग बिगड़ जाने की बात मन में आई, फिर दिल ने कहा- "पप्पू की अम्मा की आँखें, उसकी हँसी अभी भी जकड़ती हैं।"[9]

संदर्भ-सूची–

1. आखरी छलांग, नया ज्ञानोदय, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, अंक जनवरी- 2008, पृ. 85
2. वही, पृ. 92
3. वही, पृ. 105
4. मंच (पत्रिका) जनवारी-मार्च- 2001, पृ. 48
5. वही, पृ. 57
6. वही, पृ. 69
7. आखिरी छलांग, शिवमूर्ति, नया ज्ञानोदय, नई दिल्ली, अंक जनवरी- 2008, पृ. 107
8. वही, पृ. 117
9. वही, पृ. 127